उपसंहार

साहित्य युगीन परिवेश का प्रतिबिम्ब होता है । किसी भी देश के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप को समझने के लिए उस देश के साहित्य का अध्ययन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। साहित्यकार स्वयं के इर्द-गिर्द जो कुछ भी देखता या सुनता है उसी को आधार मानकर साहित्य सर्जना की ओर उन्मुख हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज में युग-विशेष की परिस्थितियों के मध्य ही रहना पड़ता है। कभी-कभी कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ व्यक्ति को साहित्यकार बना देती है। यही कारण है कि आत्मकथा साहित्य में भी युगीन आकलन महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

आत्मकथाओं की पूर्णता तथा आत्मकथाकार के आत्मचित्रण की सफलता युगीन परिस्थितियों के चित्रण पर ही निर्भर रहती है। युगीन परिस्थितियों के सफल चित्रांकन से आत्मकथा की विश्वसनीयता में वृद्धि होती है । युगीन परिस्थितियों के चित्रण से ही आत्मकथा में स्वाभाविकता आ पाती है।

अपने को पूर्णता के साथ यदि किसी साहित्यिक विधा के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है तो वह है साहित्य की नव्य विधा- 'आत्मकथा' । उपन्यास, नाटक, निबंध, कहानी आदि विधाओं के द्वारा लेखक का 'स्व' अवश्य अभिव्यक्त होता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से आत्मकथा ही वह अनुकूल या सहज विधा है जिसके द्वारा लेखक के जीवन की घटनाएँ प्रत्यक्ष व सीधे रूप में पाठक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत हो जाती हैं।

आत्मकथाकर का मुख्य विषय अपनी बीती हुए जिंदगी को फिर से व्यक्त करना होता है। आत्मकथा में लेखक के व्यक्तित्व के अनुरूप ही विषय का प्रस्तुतीकरण होता है। यदि आत्मकथाकार साहित्यिक है, तो उसकी आत्मकथा में तत्कालीन साहित्य की परिस्थितियों का वर्णन होगा। इसी प्रकार यदि आत्मकथा लेखक सामाजिक है, तो उसकी आत्मकथा में सामाजिक परिस्थितियों का अंकन होगी। यही बात धार्मिक व्यक्ति के आत्मकथा के संबंध में भी लागू होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मकथाकार का तत्कालीन परिस्थिति से कोई मतलब नहीं होता यह कहना संभव नहीं हैं क्योंकि वह भी एक सामाजिक प्राणी होता है, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से उसकी कृति में परिस्थिति का मूल्यांकन हो जाता है।

हिंदी साहित्य के लिए उन्नीसवीं सदी कहानी, उपन्यास, नाटक आदि प्रमुख गद्य विधाओं के उद्भव एवं विकास की सदी रही है। किन्तु बीसवीं सदी कथेतर नव्येतर विधाओं (रेखाचित्र, जीवनी, संस्मरण, यात्रासाहित्य, आत्मकथा आदि) के उद्भव और विकास की सदीं रहा है। आत्मकथा हमेशा किसी न किसी उदेश्य की पूर्ति के लिए लिखी जाती है। अपने जीवन से दूसरों को अवगत करने की इच्छा का प्रस्फुटन होते ही सामाजिक उदेश्य आरम्भ हो जाता है। एक तो लेखक अपने जीवन से दूसरों को प्रेरणा देना चाहता है अथवा वह अपने संबंध मे फैली हुई कुछ भ्रन्तियों को दूर करना चाहता है अथवा यश, प्रतिष्ठा एवं धनार्जन ही उसके उदेश्य हो सकते हैं। कहने का अर्थ यह है ही आत्मकथा लेखन समाज सापेक्ष होता है तथा उसका विषय 'लेखक' होता है। स्पष्ट है की आत्मकथा सिर्फ आत्मप्रदर्शन की कला मात्र नहीं है यह आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण तथा आत्मविश्लेषण का बेहतर माध्यम भी है। हिंदी में लिखी पहली

आत्मकथा जैन कवि बनारसीदास द्वारा सन् 1641 में लिखी 'अर्धकथानक' को माना जाता है। इन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में प्रायश्चित और पश्चाताप प्रकट करने हेतु पद्य में इसका लेखन किया था। इस आत्मचरित की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है की इसमें ब्रज भाषा के साथ-साथ खड़ी बोली का भी मिश्रण किया है। इस आत्मकथा के बाद हिंदी में लंबे समय तक आत्मकथा का अभाव रहा है। भारतेंदु युग में आकर इस विधा का दुबारा सूत्रपात स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी आत्मकथा 'एक कहानी: कुछ आप बीती कुछ जग बीती' से किया। इस युग के प्रमुख रचनाकारों में प्रतापनारायण मिश्र(प्रताप चरित्र), राधाचरण गोस्वामी(जीवन चरित्र) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अपनी आत्मकथा में इन्होंने जीवन की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का खुलकर वर्णन किया है। तत्पश्चात महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन रेखा' के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का उद्घाटन किया। इस युग के प्रमुख रचनाकारों में डॉ. श्यामसुन्दरदास (मेरी आत्मकहानी), मुंशी प्रेमचंद (मेरा जीवन), आचार्य रामचंद्र शुक्ल (आत्म समर्पण), मैथिलीशरण गुप्त (अपने विषय में), सियारामशरण गुप्त (झूठ-सच) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय आत्मकथाकार है जिन्होंने अपनी आत्मकथा के माध्यम से अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का परिचय दिया। आत्मकथा की दृष्टि से छायावाद काल को विकास का युग कह सकते हैं। इस युग के प्रमुख आत्मकथाकारों में संतराम बी.ए. (मेरे जीवन के अनुभव), बाबु गुलाब राय (मेरी असफलताएं), वृन्दावन लाल वर्मा (अपनी कहानी), माखनलाल चतुर्वेदी (आत्म जीवनी), आचार्य चतुरसेन शास्त्री (मेरी आत्मकहानी), राहुल सांकृत्यायन (यात्रा के पन्ने तथा बचपन की स्मृतियाँ), पाण्डे बेचन शर्मा 'उग्र' (अपनी खबर), महादेवी वर्मा (अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएं तथा पथ के साथी) आदि हैं

जिन्होंने अपनी आत्मकथा के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का उद्घाटन किया। मौलिक के साथ-साथ हिंदी में अनूदित आत्मकथा की भी कमी नहीं है। महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, कन्हैया लाल मानिक लाल मुंशी, शचीन्द्र नाथ सान्याल, जोश मलीहाबादी, अमृता प्रीतम, इस्मत चुगताई, अजीत कौर, हंसा वाडेकर इत्यादि की आत्मकथाएँ साहित्य की अमूल्य निधि है।

हिंदी साहित्य के क्षेत्र में महिला साहित्यकारों की जगह बहुत ही सीमित है। श्रीमती हरदेवी द्वारा सन् 1981 में लिखित 'लन्दन यात्रा' को प्रथम महिला आत्मकथा का सम्मान दिया जाता है। इसके बाद बीसवीं सदी के प्रारम्भ से लेकर स्वतंत्रता पूर्व तक कुछ आत्मकथाएँ आईं लेकिन वे कुछ को छोड़कर हाशिए पर ही रहीं । स्वातंत्र्योत्तर युग की महिला आत्मकथाओं में जानकी देवी बजाज की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' (1956 ई.) का विशेष महत्व है । हिंदी का साहित्य संसार अब बदल रहा है, काफी संख्या में स्त्री आत्मकथाएँ लिखी जा रही हैं, ये कथाएं कहीं अंशों मे आ रही हैं तो कहीं किताब के रूप में। इस युग की महत्वपूर्ण आत्मकथाकार शिवानी (सुनहु तात यह अकथ कहानी), पद्मा सचदेवा (बूंद बावड़ी), मैत्रेयी पुष्पा (कस्तुरी कुंडल बसै एवं गुड़िया भीत गुड़िया), रमणिका गुप्ता (हादसे), सुशीला राय (एक अनपढ़ कहानी), प्रभा खेतान (अन्या से अनन्या तक), मन्नू भंडारी (एक कहानी यह भी), कौशल्या बैसंत्री (दोहरा अभिशाप), कृष्ण अग्निहोत्री (लगता नहीं है दिल मेरा), चन्द्रकिरण सोनरेक्सा (पिंजरे की मैना), सुशीला टाकभौरे (शिकंजे का दर्द) आदि हैं। इन्होंने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री जीवन का सच समाज के सामने प्रकट किया है ।

नब्बे के दशक में दलित एवं महिला लेखन का प्रभाव साहित्य जगत में विशेष रूप से पड़ा। मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी पहली आत्मकथा 'कस्तुरी कुंडल बसै' में एक बेटी के नजरिए से माँ की मनःस्थिति का वर्णन अपने शब्दों में किया है, लेकिन स्त्री सशक्तिकरण की सैद्धांतिकी को लेकर उनकी आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' ने साहित्यिक संसार में काफी हलचल मचाई है। इस आत्मकथा के माध्यम से लेखिका ने पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था पर मर्मान्तक प्रहार किया है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा आदर्श सह-जीवन की खोज कर रही हैं, लेकिन उनकी जमीन मन्नू भंडारी और प्रभा खेतान से अलग है। वे परम्परा के हाथों गढ़े गए निजी संबंधों के दायरे में कल भी रहती थीं और आज भी रहती हैं। उनके संघर्ष उन दीवारों के भीतर हो रहे हैं, जहाँ उन्हें पत्नी, गृहिणी और माँ की संयुक्त भूमिका निभानी है। अपनी विवाहित जिंदगी के एक बहुत बड़े हिस्से में मैत्रेयी पुष्पा लेखकीय जीवन की केवल कल्पना ही कर पाती हैं। उनके साहित्यकार बनने की प्रक्रिया साहित्य और रचनाशीलता के माध्यम से महिला सशक्तिकरण के एक भिन्न कोण का सुराग देती है। इस आत्मकथा में अगर किसी पुरुष का चरित्र उसकी समस्त जटिलता में उभरकर आया है तो वह मैत्रेयी के पति डॉ. शर्मा का है। एक मध्यवर्गीय पति के असुरक्षाओं से पीड़ित होने और पत्नी के रास्ते में होशियारी से तमाम नाकेबंदियाँ करने के बावजूद उनकी तस्वीर काले रंग में चित्रित नहीं की गई है।

इस आत्मकथा को पढ़ते हुए प्रतीत हुआ की किस तरह से बेहद धैर्य एवं सूझबूझ के साथ मैत्रेयी घर व बाहर के अंतर्विरोधों के बीच परम्पराओं की काई व फिसलन पर अपने पैर जमा कर खड़ा होना सीखती है। मैत्रेयी उन तमाम लेखिकाओं से अलग जगह बनाती हैं, जो आज़ादी के लिए घर से दूर होकर अपनी लेखनी व खुद को व्यवस्थित कर पाई हैं। पति व बच्चों के प्रति अपनी ममता, स्नेह व कर्तव्यों को क्षण भर भी नहीं भूलती हैं

। प्रेम व लगाव के सामाजिक प्रतिबंधों के खिलाफ मैत्रेयी जहाँ एक ओर जहाँ सामंती मानसिकता को चुनौती देती फिरती हैं, वही दूसरी ओर एक अच्छी गृहिणी बनने व पति को खुश रखने का अथक प्रयास भी करती हैं। मैत्रेयी विवाह की नैतिक संहिता में स्त्री के प्रेम को जिस नाटकीयता से गुजरते देखती हैं, वो प्रेम न होकर प्रेम का प्रदर्शन मात्र है। यही कारण है कि मैत्रेयी विवाह के ढकोसलों से अलग स्त्री की ऐसी छवि गढ़ती हैं, जो समाज में वास्तविक सम्मान की हकदार हो। मैत्रेयी ने स्त्री की स्वतंत्रता के लिए जीवन का दांव खेला। स्त्री उपेक्षा के सारे सामाजिक संस्कारों को चुनौती देती मैत्रेयी स्त्री के लिए उसी समता, उसी आज़ादी की माँग करती हैं जो पुरुष के लिए जायज और एक स्त्री के लिए नाजायज मानी जाती है।